होती नहीं पहुंच वहां ज्ञानकी । पुच्छ प्रगति होती है विचारकी ।
बोथरा हो जाती है धार तर्ककी । उस समय ॥ ५ ॥
नाम है जिसका ज्ञान अर्जुन । उससे भिन्न प्रपंच विज्ञान ।
वहां सत्य बुद्धि ही है अज्ञान । जान तू यह ॥ ६ ॥
अन्त होगा जब अज्ञानका । निवारण होगा विज्ञानका ।
तब साक्षात् होगा ज्ञानका । अपनेमें पूर्ण ॥ ७ ॥
रहस्य है ऐसा जो गूढ । वह करुंगा शब्दरुढ ।
जिसका पूर्ण करुंगा कोड । मनका मैं ॥ ८ ॥
जिससे है मिटता प्रवचन । सुननेवालोंका भी व्यसन ।
मिटता है यह सब अज्ञान । ऊंच नीचका ॥ ९ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

मुझे जाननेवाला कोई एकाद होता है—

सहस्रो मनुष्योंमें कहीं एक । चाह करता इस विषयकी नेक ।
चाहनेवालोंमें भी कहीं एक । पाता है मुझे ॥ १० ॥
जैसे भरा हुआ भुवन । एकेक छंटके अर्जुन ।
करते संघटित सेना । लक्षाधिक ॥ ११ ॥
उसमें भी कहीं एक । सहते घात अनेक ।
पाता है विजयश्रीका । सिंहासन ॥ १२ ॥
आस्थाके इस महापूरमें । कूदढते हैं जन करोडोंमें ।
पहुंचता है पैल-तीरमें । कोई एक ॥ १३ ॥
इसीलिये यह नहीं सामान्य । कहनेमें भी यह असामान्य ।
फिर कहेंगे तुझे वह अन्य । अब सुन विज्ञान ॥ १४ ॥

शत सहस्रमें एक मोक्षार्थ जुटता कभी ।
जुटते उसमें कोई तत्वता जानते मुझे ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

अब तू सुन हे धनंजय । है महदादिक मेरी माया ।
जैसे प्रतिबिंबित हो छाया । निजांगोंकी ॥ १५ ॥

यह विज्ञान है—

इसे कहते प्रकृति जान । जान यह जो अष्टधा भिन्न ।
उत्पन्न होता है त्रिभुवन । इससे ही ॥ १६ ॥
यह है कैसी अष्टधा भिन्न । पूछता है यदि यह मन ।
कहता हूं अब विवेचन । सुन तू यह ॥ १७ ॥
आप तेज तथा गगन । धरणी मारुत औ' मन ।
बुध्दि अहंकार है भिन्न । ये भाग आठ ॥ १८ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

औ' इन आठोंकी जो समावस्था । मेरी परमप्रकृति है पार्थ ।
उसका नाम है सुन व्यवस्था । जीव ऐसा ॥ १९ ॥
जड़को जो है जिलाता । चेतनको है चेताता ।
मनसे है मनवाता । शोक मोहादिक ॥ २० ॥
बुध्दिमें जो शक्ति है जानना । उसके सान्निध्यके कारण ।
अहंकार कौशल्यके कारण । उसने धरा जगत ॥ २१ ॥

पृथ्वी आप तथा तेज वायु आकाश पांचवा ।
मन बुध्दि अहंकार मेरी प्रकृति है यह ॥ ४ ॥

हुई ये अपरा मेरी दूसरी जान तू परा ।
जीव रूप बनके जो धरता विश्वको सब ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

सूक्ष्म प्रकृति जब लीलासे । पाती स्थूलके परिणामसे ।
निकलती है टंकसालसे । भूत सृष्टि ॥ २२ ॥

उद्‌बीज, जारज, स्वेधज, अंड्‌ज । टंकसालसे निकलते सहज ।
उसके मूल्य है समान महज । आकार भिन्न ॥ २३ ॥

होते हैं चौरासी लक्षके आकार । उसकी सीमा न जानता भांडार ।
भर जाता है आदिशून्यका घर । इन नाणोंसे ॥ २४ ॥

पंच भौतिक ऐसे बहुतसे । रंग रूप धरते हैं एकसे ।
उसको लिखती है नियमसे । स्वयं प्रकृति ही ॥ २५ ॥

नाण्य आकृतिका प्रसार करती । फिर उसको धड्या भी करती ।
कर्माकर्म व्यवहारमें कराती । प्रवर्तन स्वयं ॥ २६ ॥

जाने दो यह रूपक कुशल । कहता हूं तुझको मैं सरल ।
नाम रूपका विस्तार विशाल । करती है प्रकृति ॥ २७ ॥

तथा प्रकृति मुझमें बिंबित । इसमें नहीं है अन्यथा बात ।
तभी सृष्टिका आदि मध्य अंत । जानो मुझको ही ॥ २८ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

यह जो रोहिणीका जल । उसका देखनेसे मूल ।
रवि-रश्मि नहीं केवल । है वह भानु ॥ २९ ॥

इसी भांति सुन किरीटी । परा प्रकृतिसे जो सृष्टि ।
उस पार जाय तो दृष्टि । वहां हूं मैं ॥ ३० ॥

इन दोसे सभी भूत होते उत्पन्न जान तू ।
उसीसे विश्व है सारा मैं ही हूं मूल अंत भी ॥ ६ ॥

नहीं है दूसरा तत्व मुझसे पर जो रहे ।
पिरोया मुझमें सारा धागेमें मणि मान जो ॥ ७ ॥

ऐसा हूं मैं सबका आधार । मुझमें सृष्टि स्थिति संहार ।
जैसा मणियोंमें होता डोर । आधार रूप ॥ ३१ ॥

जैसे सुवर्णके मणि किये । सुवर्ण सूत्रमें वे पिरोये ।
वैसे सृष्टिका धारण किये । रहा हूं मैं ॥ ३२ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पुण्योगन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

इसीलिये उदकमें रस । अथवा पवनमें जो स्पर्श ।
तथा शशि सूर्यमें प्रकाश । वह मैं ही जान ॥ ३३ ॥

वैसा ही नैसर्गिक शुद्ध । पृथ्वीमें रहता जो गंध ।
तथा गगनमें मैं शब्द । प्रणव वेदमें ॥ ३४ ॥

नरमें जो होता नरत्व । अहंभावका जो है सत्व ।
वह पौरुष मैं औ' तत्व । कहता तुझे ॥ ३५ ॥

अग्निका भी अर्जुन ऐसा ही है । वह तेजका निरा कवच है ।
उसके परे जो निज तेज है । वह मैं ही जान ॥ ३६ ॥

तथा जो नानाविध योनियोंमें । जनमके प्राणी त्रिभुवनमें ।
आचरण करते हैं जीवनमें । अपने पार्थ ॥ ३७ ॥

एक पवन ही है पीता । दूसरा तृणार्थ है जीता ।
कोई अन्नाधार रहता । जलपे एक ॥ ३८ ॥

सब भूतोंका जो है अन्न । प्रकृतिवश है जीवन ।
उन सबमें जो अभिन्न । मैं ही केवल ॥ ३९ ॥

हुवा मैं रस पानीमें प्रकाश चंद्र-सूर्यमें ।
वेदमें ॐ 'ख' में शब्द नरोंमें पुरुषार्थ मैं ॥ ८ ॥

मैं पुण्य गंध पृथ्वीमें उष्णता अग्निमें बना ।
आयुष्य प्राणि-मात्रोंमें तापसोंमें बना तप ॥ ९ ॥

बीजं मां सर्वभूतानां विध्दि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुध्दिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुध्दो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

विश्वोत्पत्तिके कालमें जो था । गगन अंकुरसे खिलाथा ।
अंतमें अक्षर निगलाथा । प्रणव पटके ॥ ४० ॥

जब यह विश्वाकार रहता । विश्वके समानही है दीखता ।
महा-प्रलय दशामें है होता । निराकार ॥ ४१ ॥

ऐसा अनादि जो सहज । वह मैं ही हूं विश्व-बीज ।
हथेली पर वह आज । देता हूं तुझे ॥ ४२ ॥

इस पर पांडुकुमार । करेगा गंभीर विचार ।
इसका प्रभाव सुंदर । होगा श्रेष्ठ ॥ ४३ ॥

जाने दो अप्रासंगिक आलाप । अब न बोलूंगा ऐसा संक्षेप ।
जान तपस्वियोंमें है जो तप । वह रूप है मेरा ॥ ४४ ॥

बलियोंमें है जो बल । रहता है जो अचल ।
बुद्धिवंतोंमें केवल । बुद्धि है मैं ॥ ४५ ॥

भूतमात्रोंमें है जो काम । जिससे उत्कर्ष हो धर्म ।
मैं हूं कहता आत्माराम । जान निश्चल ॥ ४६ ॥

अन्यथा जो विकारोंके रूपमें । पडे इंद्रियानुकूल कर्ममें ।
किंतु धर्म-विरुद्ध पथमें । जाने नहीं देता ॥ ४७ ॥

शास्त्र निषिद्ध कर्मका जब कुपथ । तज चलता विहित कर्मका पथ ।
तब रहता नित मशालची साथ । धर्म-रूप ॥ ४८ ॥

बीज जो सब भूतोंमें वह हूं मैं सनातन ।
तेज मैं तेजस्वियोंमें बुद्धि मैं बुद्धिमानमें ॥ १० ॥

वैराग्य-युक्त निष्काम बल मैं बलवानका ।
धर्मसे अविरोधी मैं भूतोंकी काम-वासना ॥ ११ ॥

ऐसा काम तेज देता चलता । जिससे होती धर्मकी पूर्णत
संसारमें मुक्ताफल भोगता । मोक्षतीर्थका वह ॥ ४९ ॥

तब श्रुति-गौरवके मांडवेपर । बढ़ाता काम सृष्टि-लताका अं
सुकर्म फल सह पल्लव सुंदर । पहुंचते मोक्षतक ॥ ५० ॥

ऐसा जो काम है धर्म विहित । जिसमें सृष्टिका बीज
वह हूं मैं कहता जगन्नाथ । अर्जुनसे ॥ ५१ ॥

कहना कितना भिन्न भिन्न । वस्तुमात्र मुझसे उत्पन्न ।
जिससे भरा है त्रिभुवन । जान तू पार्थ ॥ ५२ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाः
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते १२ ॥

जो हैं ये सात्विक भाव । या रज-तमादि सर्व ।
वे मम रूप संभव । जान तू यहां ॥ ५३ ॥

हुए ये यदि मुझसे ही । इसमें मैं रहता नहीं ।
स्वप्न कुंडमें डूबे नहीं । जागृति जैसी ॥ ५४ ॥

नहीं तो बीज होता ठोस । जैसे जमा हुआ ही रस ।
फूटके कोंपल सरस । बनता काष्ठ ॥ ५५ ॥

फिर कहो उस काष्ठमें सभी । बीजपन रहता है क्या
वैसा दीखता विकार कर भी । नहीं मैं विकारमें ॥ ५६

अथवा गगनमें घिरते बादल । उनमें न रहता गगन
अथवा बादलमें होता है सलिल । जलमें नहीं अभ्र ।

फिर उस जलके आवेशसे । दीखता लखलख तेज जै
किंतु उस तेजमें जल वैसे । रहता है क्या ॥ ५८ ।

जैसे अग्निसे है धूम होता । धूममें क्या अग्नि है
वैसे विकरके भी नहीं होता । विकृत मैं कभी ॥ ५

मुझसे हैं बने भाव सत्व राजस तामस ।
इनमें न रहता मैं रहते मुझमें यही ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

मुझसे निर्मित त्रिगुणोंने मुझे ढक दिया है—

जलसे हुई जलकुंभी जैसे । छिपा देती है सलिलको वैसे ।
झूठे ही घटोंके आवरणसे । छिपता आकाश ॥ ६० ॥

अजी ! स्वप्न यह मिथ्या सब । आप हुआ निद्रावश तब ।
आती उसकी प्रतीति जब । समरसता है क्या ॥ ६१ ॥

अजी ! पानी ही जो आंखका । रूप लेता जब झिल्लीका ।
देखना ही वह आंखका । मिटा देता ॥ ६२ ॥

ऐसी ही यह मेरी माया । बनी त्रिगुणात्मक छाया ।
उसने मुझे है छिपाया । आवरण बन ॥ ६३ ॥

प्राणिमात्र तभी मुझे नहीं जानते । मेरे होकर भी मद्रूप नहीं होते ।
जल होकर जलमें न गलते । मोति जैसे ॥ ६४ ॥

माटीसे बनाया हुआ जो मटका । तुरंत मिलानेसे होता मृत्तिका ।
किंतु आगमें जला हुआ मटका । रहता खपरा बन ॥ ६५ ॥

वैसे भूतमात्र सर्व । हैं मेरे ही अवयव ।
किंतु अविद्यासे जीव । बने हैं जो ॥ ६६ ॥

तभी ये मेरे होकर भी मैं नहीं । मेरे होकर भी मुझे जानते नहीं ।
अहं ममताकी भ्रांतिमें ही यहीं । हुए विषयांध ॥ ६७ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

अहं ममताकी भ्रांतिके कारण जन्ममरण-चक्र—मायानदी—

इन्हीं त्रिगुण भावोंने किया है विश्व मोहित ।
जिससे मैं नहीं ज्ञात गुणातीत सनातन ॥ १३ ॥

दैवी गुणमयी माया मेरी है अति दुस्तर ।
मेरी शरण जो आते इसको तरते वही ॥ १४ ॥

महदादि है यह मेरी माया । उसे पार करके धनंजय ।
होना है मद्रूपमें जो विलय । किस भांतिसे ॥ ६८ ॥

टूटे कगारसे जो ब्रह्माचलके । उमंगसे मूल संकल्प जलके ।
उठे हैं बुले पंचमहाभूतोंके । छोटेसे वहां ॥ ६९ ॥

सृष्टि विस्तारके जो ओघसे । काल-ग्रास शक्तिके वेगसे ।
प्रवृत्ति निवृत्तिके कूलसे । बहती उमड़कर ॥ ७० ॥

जो गुण-घनकी महा-वृष्टिसे । भरी है मोहके महा-पूरसे ।
काटकर ले जाती है वेगसे । यम नियम नगर ॥ ७१ ॥

भरी है जो द्वेषावर्तोंसे । मत्सरादि बडे मोडोंसे ।
तथा भयानक मीनोंसे । प्रलोभनके ॥ ७२ ॥

चक्कर हैं उसमें प्रपंचके । महापूर आते कर्माकर्मके ।
ऊपर तरते सुख दुःखके । झाग-पुज ॥ ७३ ॥

वहां द्वीप पर हैं रतीके । टकराते तरंग कामके ।
दीखते हैं जीव समूहके । झाग पुज ॥ ७४ ॥

अंतः प्रवाह अहंकारके । उबाल आते मदत्रयके ।
उठे तरंग विषयोर्मिके । पुनः पुनः ॥ ७५ ॥

जहां रेलेसे उदयास्तके । गढे पड़ते जन्म मृत्युके ।
बुले उसमें पंच भूतके । उठते औ' फूटते ॥ ७६ ॥

संमोह विभ्रम हैं मीन जिसके । निगलते कौर सात्विक धैर्यके ।
वक्र गतिसे चलते अज्ञानके । भवर भी जहां ॥ ७७ ॥

जहां भ्रांतिके गंदले जलमें । फंसता जीव आशाके पंकमें ।
रजोगुणकी खलबलीमें । गूंजता स्वर्ग ॥ ७८ ॥

वहां है तमकी तीव्रधार । सत्वकी है स्थिर औ" गंभीर ।
यह तैरनेमें भयंकर । माया-नदी ॥ ७९ ॥

पुनर्जन्मके उत्तंग तरंग । छूते सत्य-लोकके गिरिशृंग ।
ढलती जिससे शिला भी संग । ब्रह्मलोककी ॥ ८० ॥

महानदीका यह पूर । वह जाता जो भयंकर ।
करे कौन इसको पार । धनंजय ॥ ८१ ॥

यहां है एक और आश्चर्य । करते हैं जो तरणोपाय ।
होता है वह सब अपाय । वह कैसा जान ॥ ८२ ॥

बुध्दि बाहूसे जो तरने गये । पता नहीं चला वे कहां गये ।
अभिमान डोहमें डूब गये । ज्ञानमानी जो ॥ ८३ ॥

लिया जिन्होंने वेदोंका आश्रय । साथ ही दिया मानको प्रश्रय ।
हुए वे मद-मीनमें ही लय । पूर्ण रूपसे ॥ ८४ ॥

जिसने किया तारुण्यका साथ । उसपे पड़ा मन्मथका हाथ ।
उसे विषय मगरके दांत । चबाते सदा ॥ ८५ ॥

फिर वृद्धावस्थाका जाल । मति-भ्रम कंप जंजाल ।
कसता जाता पल पल । चहू ओरसे ॥ ८६ ॥

पटकता फिर शोक तीर पर । क्रोधावर्तमें नित उलझाकर ।
जब उठाते हैं उसमेंसे सिर । कोंचते विपद्‌गृध्र ॥ ८७ ॥

रुते फिर दुःख पंकमें । फंसे नित मृत्यु-पाशमें ।
गये जो काम आश्रयमें । गये व्यर्थ ही जो ॥ ८८ ॥

यज्ञ-क्रियाके साधनसे । लैस होकर तरनेसे ।
स्वर्ग-कंदरामें जा फंसे । यकायक ॥ ८९ ॥

मुक्ति-किनारा जो पाने गये । कर्म-बाहूंका आसरा लिये ।
चक्करमें ही उलझ गये । विधि-निषेधके ॥ ९० ॥

वहां वैराग्य नांव नहीं जाती । विवेकको थाह नहीं मिलती ।
योग-विद्या भी यदि काम आती । यदाकदा ही ॥ ९१ ॥

अपना बल लगाकर । माया-नदीको तैर कर ।
पार करनेका विचार । व्यर्थ ही है ॥ ९२ ॥

कुपथ्यशीलकी मिटे व्याधी । साधु जाने दुर्जनकी बुध्दि ।
अथवा लोभी त्यजे श्रीसिध्दि । हाथमें जो आयी ॥ ९३ ॥

अथवा दंड डरे चोरसे । कांटा निगला जावे मीनसे ।
तथा काय लडे भूतसे । वैसे ही पार्थ ॥ ९४ ॥

या जाल कुतरे मृग-छौना । चींटीका हिमगिरि लांगना ।
तभी है माया नदी तैरना । जीवसे साध्य ॥ ९५ ॥

अजी! सुन तू पांडुसुता । कामी न जीतता वनिता
वैसी मायामय सरिता । न तैरता जीव ॥ ९६ ॥

किंतु सरते सहज लीलासे । भजते मुझे जो सर्व
सूखा उनके इसी तीरसे । मायाका जल ॥ ९७ ॥

सद्गुरु मांझी उनके साथ । प्रतीतिका बल उनके
आत्म-निवेदनकी है सतेज । डांगी ही जो ॥ ९८ ।

अहंभावका जो तजकर भार । विकल्प आंधीका झ
अनुराग जलावेगका उतार । लेकर टोह ॥ ९९ ॥

फिर लिया ऐक्यका आधार । उसे जोडा बोधका
तब निवृत्तिका पैल-तीर । जीत लिया ॥ १०० ॥

उपरतिका चप्पू मारकर । सोऽहंभावका सान्य स
फिर चले निवृति तट पर । सहज भावसे ॥ १

इस उपायसे जो मेरे हुये । वे सब मेरी माया
ऐसे भक्त भी क्वचित ही भये । नहीं अधिक

न मां दुष्कृतिनो मूढाःप्रपद्यन्ते
माययापहृतज्ञाना आसुरं भाव१५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी ॥ १६ ॥

सभी अहंकारकी भूत-चेष्टामें आते हैं—

अन्य जन हैं जो अवांतर । अहंकारका भूत
होनेसे विस्मृत निरंतर । आत्म-बोधसे ॥ ३ ॥

हीन मूढ दुराचारी मेरा आश्रय छोड़के ।
आते होकर मायासे पाते हैं भाव आसुरी ॥ १५

भक्त चार सदाचारी भजते मुझको नित ।
ज्ञानी तथैव जिज्ञासु अर्थार्थी पार्थ विव्हल ॥ १

होता नियम-पटका विस्मरण । अधोगतिका रहता नहीं भान ।
किया जाता शास्त्र-निषिद्ध ही जान । अकार्य सब ॥ ४ ॥

क्यों किया शरीरका आश्रय । भूलकर ही मूल उद्देश्य ।
तदर्थ करणीय जो कार्य । छोडकर ॥ ५ ॥

इंद्रिय-ग्रामके चौराहेपर । अहं ममताके गर्प्पोंमें भर ।
विकारोंके समुदाय अपार । जुटाते रहते ॥ ६ ॥

दुःख-शोकके घावोंसे । प्रहारोंके विचारसे ।
बेभान माया-तमसे । ग्रस्त हैं जो ॥ ७ ॥

इसीलिये वे बिछुडे मुझसे । अन्य जो भजते चतुर्विधसे ।
उन्होंने आत्महित है जिससे । किया बुद्धिगत ॥ ८ ॥

चार प्रकारके मेरे भक्त—

पहला आर्त कहलाता । दूसरा जिज्ञासू बनता ।
तीसरा अर्थार्थी है होता । चौथा है जो ज्ञानी ॥ ९ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

दुःखी होनेसे भजता आर्त । जिज्ञासु भजता है ज्ञानार्थ ।
तीसरा है भजता अर्थार्थ । धनंजय ॥ १० ॥

मत्प्रिय ज्ञानी भक्त—

अब बात चौथेकी रही । उसको करणीय नहीं ।
वही एक भक्त है सही । ज्ञानी है जो ॥ ११ ॥
होता है जो ज्ञानके प्रकाशसे । मुक्त सदा भेदाभेद तमसे ।
रहता मद्रूप-समरससे । तथा भक्त भी जो ॥ १२ ॥

श्रेष्ठ है सबमें ज्ञानी नित्य-युक्त अनन्य जो ।
उसे मैं प्रिय अत्यंत वह भी प्रिय है मुझे ॥ १७ ॥

जैसे सामान्य दृष्टिसे स्फटिक । आभास होता है मानो उदक ।
वैसा लगता ज्ञानी सकौतुक । नहीं है ज्ञानी ॥ १३ ॥

पवन जब गगनमें घुल जाता । उसका अस्तित्व भिन्न नहीं रहता ।
ज्ञानीका समरसमें विलय होता । रहता जैसे ॥ १४ ॥

हिलाकर देखा पवन । दीखता गगनसे भिन्न ।
वैसे स्वभावसे गगन- । जैसे रहता ॥ १५ ॥

ज्ञानी वैसे काया-कर्मसे । दीखता उपासक जैसे ।
आंतरिक अनुभावसे । मद्रूप है जो ॥ १६ ॥

किंतु वह ज्ञानके प्रकाशसे । अनुभवता तत्वमसि ऐसे ।
मैं भी कहता तब आनंदसे । है वह "मम आत्मा" ॥ १७ ॥

जो जीव भाव परका बोध पाकर । करना जानता शुद्ध व्यवहार ।
पानेसे वह केवल भिन्न शरीर । मुझसे भिन्न है क्या ॥ १८ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

ऐसे अपने स्वार्थके लोभसे । भक्त बनकर चिपकते मुझसे ।
किंतु मैं प्रेम करता जिनसे । वह है ज्ञानी मात्र ॥ १९ ॥

अजी ! दूधि पय घृतकी जो आशा । उलझाती लोगोंसे गायको फांसा ।
किंतु उस पाशके बिन भी कैसा । दूध पाता है बछड़ा ॥ १२० ॥

क्यों कि वह तन मन प्राणसे । न जाने अन्य कुछ भी जिससे ।
जो सामनेसे दीखता है उसे । मानता माय मेरी ॥ २१ ॥

इस भांति जो हैं अनन्य गति । तभी करती है गाय भी प्रीति ।
इसलिये कहता लक्ष्मीपति । वह है यथार्थ ॥ २२ ॥

रहने दो फिर वे बोले । अब तुझसे हम बोले ।
वे तीन भक्त भी भले । भाते हैं मुझको ॥ २३ ॥

हैं ये उदार सारे ही ज्ञानी तो स्व-समान है ।
मुझमें स्थिर जो युक्त गति अंतिम जानके ॥ १८ ॥

किंतु जिसने मुझे जानकर । मुडकर देखा नहीं संसार ।
सरिता सागरको प्राप्तकर । न मुड़ती जैसे ॥ २४ ॥

जिसके हृदय गव्हरमें उगम । अनुभव गंगाका मुझसे संगम ।
कैसे गायें फिर महिमा अनुपम । शब्दोंसे उसकी ॥ २५ ॥

अजी ! जो ज्ञानी कहलाता है । वह तो मेरा चैतन्य ही है ।
यह बात कहनेकी नहीं है । कहता हूं तुझसे ॥ २६ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

ज्ञानी भक्तिका महान् अनुभाव—

वह तो घने वनमें विषयोंके । आया है आतंकसे काम-क्रोधके ।
पाकर छुटकारा सद्वासनाके । पहाडपर ॥ २७ ॥
फिर वह साधु-संगसे धनुर्धर । विहित कर्म-पथ पर चलकर ।
निषिद्ध-प्रवृति पथ छोड़कर । कर्म-मार्गसे ॥ २८ ॥
शत-जन्मोंका है प्रवास करता । फलाशाका जूता नहीं पहनता ।
फल-हेतुका लेख कौन लिखता । ऐसी स्थितिमें ॥ २९ ॥

शरीर संयोगकी रातमें ऐसे । सर्व-संग त्यागकी सिद्धतासे ।
दौडनमें पौ फटी अनायाससे । कर्मक्षयकी ॥ १३० ॥
फिर चमकी उषा गुरु-कृपाकी । खिल फैली स्वर्ण-किरण ज्ञानकी ।
वहां प्रतीति हुई साम्य-सिद्धिकी । अंतर दृष्टिमें ॥ ३१ ॥
जिस ओर देखो तब मैं हूं । एकांत लोकांतमें मैं ही हूं ।
सदा सर्वत्र मैं एक ही हूं । मैं ही उसका ॥ ३२ ॥
उसके लिये सदा सर्वत्र कहीं । मैं छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं ।
तलावमें डूबी गगरीको कहीं । जैसे जल सर्वत्र ॥ ३३ ॥
होता है वह मेरे भीतर । उसको मैं बाहर भीतर ।
इसको शब्दोंमें गूंथकर । कहा नहीं जाता ॥ ३४ ॥

अनेक जन्मके पीछे पायो हैं शरणागति ।
विश्व देखें वासुदेव संत है अति दुर्लभ ॥ १९ ॥

ऐसा होता वह ज्ञान-सागर । जिससे सदा बाहर भीतर ।
देखता आत्म-रूप निरंतर । विश्वमें आप ॥ ३५ ॥

यह समस्त है श्रीवासुदेव । प्रतीति रससे ढला है भाव ।
इसीलिये भक्तमें वह राव । तथा ज्ञानियोंमें भी ॥ ३६ ॥

उसका अनुभव भंडार । भरता है जंगम स्थावर ।
ऐसा महात्मा है धनुर्धर । दुर्लभ मिलना ॥ ३७ ॥

नाशवंत वस्तुओंकी इच्छासे आरधना करनेवाले अनेक—

ऐसे बहुत आते हैं अर्जुन । करते हैं जो भोगार्थ भजन ।
आशा तमसे जिनके नयन । हुए अति-मंद ॥ ३८ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताःस्वया ॥ २० ॥

होती जब फलकी तीव्र आस । हृदयमें होता काम प्रवेश ।
बुझाता है उसका सहवास । ज्ञान-दीपको ॥ ३९ ॥

पडनेसे ऐसा उभय अंधार । समीपस्थ मुझको वे भुलाकर ।
होते हैं सर्व भावसे अनुचर । देवताओंके ॥ १४० ॥

पहलेसे जो दास है प्रकृतिके । उसीमें वश है भोग लालसाके ।
लोलुपतासे रचते हैं पूजाके । महोत्सव ॥ ४१ ॥

क्या है उसकी नियम-बुध्दि । कैसी है उपचार-समृध्दि ।
अर्पण करते हैं यथाविधि । विहित रूपसे ॥ ४२ ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

भ्रांत जो कामना ग्रस्त पूजते अन्य दैवत ।
स्वभाव वश अज्ञानी उनके ही विधानसे ॥ २० ॥

पूजना चाहते जैसे श्रद्धासे जिस रूपको ।
जैसी है जिसकी श्रद्धा करता स्थिर मैं स्वयं ॥ २१ ॥

किंतु जो है अन्य देवता । भजनेकी चाह करता ।
इच्छा पूर्तिमें ही करता । उनकी भी ॥ ४३ ॥

देव-देवीमें मैं ही रहता । यह भी वह नहीं जानता ।
सबमें वह भाव धरता । भिन्न भिन्न ॥ ४४ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

फिर हैं वह श्रद्धायुक्त । आराधनामें जो उचित ।
सिध्दि तक सब समस्त । करता रहता है ॥ ४५ ॥

जैसा है जिसका भाव । वैसा फल देता देव ।
मिलता वह सदैव । मेरे ही कारण ॥ ४६ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजोयान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

अन्य देवताओंद्वारा पाये गये भोग नाशवंत होते हैं—

किंतु भक्त वे मुझे नहीं जानते । कल्पनाके बाहर नहीं पड़ते
इसीलिये कल्पित फल हैं पाते । नाशवंत जो ॥ ४७ ॥

अजी ! ऐसा जो यह भजन । वह है संसारका ही साधन ।
यहां फल भोगका ही स्वप्न । दीखे क्षणभर ॥ ४८ ॥

फिर जो भाता है दैवत । जिसका यजन सतत ।
होता है वही जिसे प्राप्त । धनंजय ॥ ४९ ॥

यहां जिसके तनमन प्राण । करता सतत मेरा स्मरण ।
होता है जब उसका निर्वाण । पाता मद्रूप ॥ १५० ॥

उसी श्रद्धा-शक्तिसे तो पूजते उस रूपको ।
मांगे जो उससे भोग पाते मेरे विधानसे ॥ २२ ॥

नाशवंत फल पाते जन जो अल्प बुद्धिके ।
देवोंके भक्त देवोंको मेरे जो मुझसे मिले ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्न मन्यन्ते।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनु ॥

किंतु ऐसा न करके प्राणिजात । व्यर्थ ही खोतपना हित ।
मानो तैरते हैं जलमें सतत । हथेलीके ही ॥ ५

या अमृतकुंडमें डूबकर । होठोंको दृढतासे दबाकर
स्मरण करता है निरंतर । डबरेका पानी ॥ ५२

किसलिये यह ऐसा करना । अमृतमें डूबकर मर
सुखसे अमर क्यों नहीं होना । अमृतमें ही ॥ ५

फलाशाका पिंजडा तजकर । अनुभव पंखसे धनु
क्यों न करें चिदंबर संचार । समर्थ भावसे ॥

चिदाकाशमें ऊंचाई पर । करें सुखसे उन्मुक्त सं
उसका है अनंत विस्तार । अपनाही ॥ ५५ ॥

असीम पर क्यों सीमाका नियमन । मुक्त निराव बंधन ।
स्वयंसिद्धका करना क्यों बलिदान । साधन पर ॥

किंतु मेरा यह कथन । विचारांतमें भी अर्जुन ।
न करेगा जीवोंका मन । इसका स्वीकार ॥ ५७

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मा ॥ २५ ॥

मैं सर्वव्यापी हूं किंतु—

क्यों कि योगमायाके परदेसे । अंधत्व आनेके
न देखता प्रकाश बलसे । मुझको कभी ॥ ५८ ॥

पूजते व्यक्त हो रूप बुद्धि-हीन न जानके ।
अव्यक्त श्रेष्ठ जो रूप मेरा अंतिम शाश्वत ॥ २४ ॥

छिपा मैं योग मायासे न हूं प्रकट विश्वसे ।
अजन्मा नित्य मैं ऐसा न जाने मूढ लोग जो ॥ २५

ऐसा देखे तो मैं नहीं । ऐसी वस्तु नहीं कहीं ।
जैसा पानी होता नहीं । रसके बिना ॥ ५९ ॥

पवन किसको नहीं छूता । आकाश कहां नहीं रहता ।
वैसी ही सर्वत्र व्यापकता । एक मात्र मेरी ॥ १६० ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

अतीतमें जितने भूत । मैं ही वे जान तू सतत ।
आज हैं विश्वमें जो पार्थ । वे भी मैं हूं ॥ ६१ ॥

भविष्यमें होंगे जितने ही । अलग मुझसे वे भी नहीं ।
यह बात है कहनेकी ही । वैसा न होता कछु ॥ ६२ ॥

अजी ! रज्जूके भुजंगको जैसे । काला पीला न कह सके ऐसे ।
भूतमात्र सब मिथ्यापनसे । हैं अनिश्चित ॥ ६३ ॥

सदा मैं सुन पांडुसुत । होने पर भी अखंडित ।
संसार ग्रस्त सब भूत । अन्य प्रकारसे ॥ ६४ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

कहता हूं इसका कारण । अब तू ध्यान देकर सुन ।
अहंकार-तनका वरण । हुआ तब ॥ ६५ ॥

जन्म हुआ कुमारीका । आया उसे यौवन कामका ।
हुआ द्वेषसे ब्याह उसका । सुनो तब ॥ ६६ ॥

आपत्य हुआ उन दोनोंके । द्वंद्व मोह नाम हैं उनके ।
बड़े वह प्यारमें दादाके । जो था अहंकार ॥ ६७ ॥

हुये जो और जो होंगे भूत हैं आज जो यहां ।
सबको जानता हूं मैं मुझे कोयी न जानते ॥ २६ ॥

राग औ' द्वेषसे ऊठे चित्तमें मोह-द्वंद्व जो ।
जगतके सभी प्राणि घिरे हैं इससे यहां ॥ २७ ॥

धृतिका जो प्रतिकूल रहता । आशा-रससे परिपुष्ट होता ।
नियमका अनादर करता । द्वंद्व-मोह ॥ ६८ ॥

असंतुष्टताकी मदिरा । मत्त होकर धनुर्धर ।
विकार स्त्री-सह संसार । करता विषयोंमें ॥ ६९ ॥

जिससे भाव-शुध्दिकी राह पर । फैलाये विकल्पके कांटे अपार ।
खुल जाते तब कुपथ दो चार । अप्रवृत्तिके ॥ १७० ॥

इसने प्राणि गड़बडाये । संसार खडियामें फंसाये ।
फिर दंडुकेसे पिटवाये । महा-दुःखके ॥ ७१ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

भाव-शुध्दिकी राह पर । विकल्प-शूल देखकर ।
नहीं आते जो लौट कर । बुध्दि-भ्रमसे ॥ ७२ ॥

थोडेसे जो मद्रूप होते हैं उनको अंतकालमें दुःख नहीं होता--

पगसे ही एक-निष्ठाके । शूलांकुरोंको विकल्पके ।
रौंध छोडे महा-पापके । वन-प्रांत ॥ ७३ ॥

सत्कर्मकी फिर दौड़ लगायी । मेरे सामिप्यकी मंजिल पायी ।
महा-विपत्तिसे जान बचायी । बटमारोंके ॥ ७४ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्मतद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

सहज ही सोचने पर पार्थ । जन्म मरणकी मिटती कथा ।
इस भ्रांतिके प्रयत्नोंमें आस्था । उत्पन्न होती ॥ ७५ ॥

गलाये जिसने पाप अपने पुण्य कर्मसे ।
दृढतासे भजते वे द्वंद्व मोह हठाकर ॥ २८ ॥

जुटे मेरे सहारे जो जीतते जन्म मृत्युको ।
जानते ब्रह्म वे पूर्ण तथा अध्यात्म-कर्म भी ॥ २९ ॥

उनका वह यत्न ही एक काल । देता समग्र पर-ब्रह्मका फल ।
पक्वतामें चूता रस पल पल । तब पूर्णताका ॥ ७६ ॥

कृतार्थतासे विश्व जब भरता । मिटती है अध्यात्मकी अपूर्णता ।
तथा कर्मका काम नहीं रहता । होता मन विलय ॥ ७७ ॥

उसकी ऐसा अध्यात्म लाभ । होता है सुन पुरुषर्षभ ।
उसका पूंजी हूं मैं सुलभ । इस उद्यममें ॥ ७८ ॥

साम्यके वृध्दिसे उसके । सधते व्यापार उसके ।
वहां दारिद्र्य जो द्वैतके । रहता नहीं ॥ ७९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

सब अधिभूत मुझको । प्रतीतिसे अधिदैवको ।
जिन्होंने जाना यथार्थको । धनंजय ॥ १८० ॥

अनुभवके ज्ञान बलसे । जानता मैं अधियज्ञ इसे ।
वह शरीरके वियोगसे । अकुलाता नहीं ॥ ८१ ॥

अन्यथा आयुष्य सूत्र जब टूटता । प्राणियोंका तब हृदय तड़पता ।
सजीवके चितमें भी युगांत आता । देखकर यह ॥ ८२ ॥

किंतु यह नहीं जाने कैसा । ज्ञानियोंका नहीं होता ऐसा ।
अंतकालमें भी वह सहसा । मुझे भूलते नहीं ॥ ८३ ॥

अन्यथा तू यह जान । ऐसे जो महा-निपुण ।
औ' युक्त अंतःकरण । योगी हैं वही ॥ ८४ ॥

सातवें अध्यायका ज्ञानेश्वर कृत उपसंहार और आठवेंकी भूमिका—

तब यह शब्द कूपका तल । न पहुंचा पार्थ कर-कमल ।
पल एक पार्थ था उस काल । पिछडा हुआ ॥ ८५ ॥

अधिभूताधि दैवोंमें मुझे जो अधि-यज्ञमें ।
प्रयाण-कालमें भी जो जानते रह सावध ॥ ३० ॥

जहां तद्ब्रह्मवाक्फल । जो ज्ञानार्थसे रसाल ।
साभिप्राय परिमल । भावोंके हैं ॥ ८६ ॥

जो सहज कृपामंदानिल । कृष्णाद्रुमका वचन-फल ।
लाया अर्जुन श्रवण-तल । अकस्मात ॥ ८७ ॥

जो ये तत्व सिद्धांतसे बनाये । ब्रह्म-रस सागरमें हैं डुबोये ।
फिर वैसे ही थे जो पगाये । परमानंदमें ॥ ८८ ॥

उसके निर्मल सौंदर्यसे । ज्ञान-उन्मेशकी वासनासे ।
चूने लगा पार्थकी जिव्हासे । विस्मयामृत ॥ ८९ ॥

लाभसे उस सुख-संपत्तिके । सुरसुराहटसे हृदयके ।
व्यंग दिखाकर स्वर्ग-सुखके । हंसने लगा ॥ २९० ॥

फलका बाह्य सलोनापन । अनुभव करके अर्जुन ।
रस-स्वादमें रसना मन । रखो बैठा सहज ॥ ९१ ॥

उठाकर वह वाक्फल । अनुभानका करतल ।
प्रतीति-मुखमें तत्काल । भरने लगा ॥ ९२ ॥

किंतु विचार मुखमें न समाता । हेतुका दांत नहीं काट सकता ।
इसलिये पार्थ मुख न लगाता । उस फलको ॥ ९३ ॥

कहता तब अर्जुन हो चमत्कृत । तारागण ये जलमें प्रति-बिंबित ।
ऐसे हैं तेरे ये वाक्फल सुशोभित । इसमें मैं उलझा ॥ ९४ ॥

नहीं ये तेरे साधारण शब्द । है अनुभव-गगन विषद ।
थाह न पाती बुध्दि भाव-पद । डूब जाती है ॥ ९५ ॥

मनमें जान यह गोष्टि । कृपार्थ पुनः किरीटी ।
पुनरपि घुमाता दृष्टि । कृष्ण चरणमें ॥ ९६ ॥

विनय करता अर्जुन । ये सात ही पद नवीन ।
ग्रहण न करते कान । आश्चर्यकारक ॥ ९७ ॥

श्रवण करके ही ये केवल । इनके प्रमेयोंका जो है जाल ।
करेगा मन इन्हे करतल । ऐसे लगा था ॥ ९८ ॥

ऐसा नहीं यह निश्चय । देख अक्षर समुदाय ।
है साश्चर्य-जीव आश्चर्य । देव मेरा ॥ ९९ ॥

कानोंके इन गवाक्षोंसे । शब्द-किरण प्रवेशसे ।
मन हुआ चमत्कृतिसे । चकित मेरा ॥ २०० ॥

चाहता मैं भावको जानना । कहनमें समयको खोना ।
कष्ट कर प्रभु निरूपण । कर तू सत्वर ॥ १ ॥

पीछेका कर अवलोकन । अगले पर रख नयन ।
स्व-इच्छाका भी कर दर्शन । पूछना चतुराइसे ॥ २ ॥

देख अर्जुनका चतुरपन । न कर मर्यादाका उल्लंघन ।
करता हृदयका आलिंगन । श्रीकृष्णके ॥ ३ ॥

कैसे पूछना है प्रश्न । रखकर अवधान ।
जानता यह अर्जुन । भली भांति ॥ ४ ॥

अर्जुनका है ऐसा पूछना । श्रीकृष्णका भाव समझाना ।
संजयको भाये ये वचन । कहेगा वह प्रेमसे ॥ ५ ॥

सुनो उस संवादको दे ध्यान । करूंगा देश भाषामें कथन ।
कानसे आगे करके नयन । जानेंगे वह ॥ ६ ॥

बुध्दि-जिव्हासे चखनेसे पूर्व अक्षर । देखकर नयन उनका अलंकार ।
अनुभवेंगे इंद्रिय अपरंपार । सुख संतोषको ॥ ७ ॥

जैसे मालतीका फूल । घ्राणसे है परिमल ।
लेनेसे पूर्व कोमल । सुख लेते नयन ॥ ८ ॥

वैसे है देशीका जो सौंदर्य । करायेगा इंद्रियसे राज्य ।
फिर करेगा वह प्रमेय- । सुधा-पान ॥ ९ ॥

जहां होती है वाचा मौन । वह करूंगा मैं कथन ।
यह ज्ञानदेव-वचन । जो हैं निवृति-दास ॥ २१० ॥

गीता श्लोक ३०

ज्ञानेश्वरी ओवी २१०.

८

सातत्ययोग

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनके सात प्रश्न—

फिर कहा अर्जुनने । जी सुनलिया मैंने ।
अब जो पूछा मैंने । कहो वह ॥ १ ॥

कहो क्या है वह ब्रह्म । किसका नाम है कर्म ।
अथवा क्या है अध्यात्म । कहो मुझे ॥ २ ॥

प्रभो ! अधिभूत यह है कैसे । औ' अधिदैवत कहते किसे ।
यह सुनाओ प्रकट रूपसे । जो मैं समझूं ॥ ३ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

प्रभो अधियज्ञ क्या है । इस देहमें कौन है ।
समझमें न आता है । अनुमानके भी ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा

किसको कहते ब्रह्म तथा अध्यात्म-कर्म क्या ।
अधिभूत कहो क्या है तथा क्या अधिदैव भी ॥ १ ॥

अधियज्ञ यहां कौन कैसा है इस देहमें ।
कैसे प्रयाणमें योगी निग्रही जानते तुझे ॥ २ ॥

तथा कैसे किया नियतांतःकरण । प्रायाण-कालमें कैसे हो तव ज्ञान ।
वह कैसे कहो तुम मुझे श्रीकृष्ण । पूर्ण रूपसे ॥ ५ ॥

ज्ञान देनेमें उदार प्रसन्न प्रभु—

कोई सोया घरमें चिंतामणिके । यदि योगसे ही अपने भाग्यके ।
बोल भी उसके बडबडानेके । न जाते व्यर्थ ॥ ६ ॥

अर्जुनके शब्दके साथ । मनमें कहते हैं नाथ ।
"तूने पूछा यही उचित ।" सुन तू अब ॥ ७ ॥

शावक है अर्जुन कामधेनुका । आसरा है ऊपर कल्पतरुका ।
होना उसके मनोरथ सिद्धिका । आश्चर्य क्या ॥ ८ ॥

क्रोधसे देता प्रभु जिसको मार । उसको होता है ब्रह्म साक्षात्कार ।
जिसको देता वह सीख कृपाकर । उसको क्या न मिलेगा ॥ ९ ॥

जब होते हम श्रीकृष्ण-शरण । कृष्ण होता अपना अंतःकरण ।
तब अपना संकल्पका अंगन । भरता महा-सिद्धिसे ॥ १० ॥

किंतु ऐसा जो प्रेम । पार्थमें है निःस्सीम ।
तभी उसका काम । सदा फलता ॥ ११ ॥

इस कारण ही वह अनंत । जानकर उसका मनेरथ ।
भर रखता थाली पक्वानयुत । ज्ञानान्नसे आप ॥ १२ ॥

आपत्य जब स्नेहसे दूर होता । भूख उसकी अनुभवती माता ।
नहीं तो क्या वह शब्दसे कहता । मुझे दूध दे री ॥ १३ ॥

कृपालू गुरुदेवके यहां । आश्चर्य नहीं इसका जहां ।
जाने दो यह प्रभुने वहां । कहा क्या सुनो ॥ १४ ॥

भगवान उवाच
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वाभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

ो भगवानने कहा

ब्रह्म अक्षर है श्रेष्ठ अध्यात्म निज-भाव जो ।
भूत-सृष्टि सजाता जो वह व्यापार कर्म है ॥ ३ ॥

सभी साकार वस्तुओंमें ओतप्रोत अविनाशी-तत्व है ब्रह्म—

कहता है तब सर्वेश्वर। टूटे हुए हैं सब आकार।
उसमें भी जो ठूंसने पर। टूटता नहीं ॥ १५ ॥

देखने पर वैसी उसकी सूक्ष्मता। शून्य किंतु शून्य नहीं है स्वभावता।
गगनसे वह है छननेमें आता। जो है भूक्ष्मतम ॥१६॥

इस भांती यह विरल होकर। विज्ञान-पटमें भर हिलने पर।
चूता नहीं जो वह पांडुकुमार। परब्रह्म है जान ॥ १७ ॥

सहज नित्यत्व है आध्यात्म

तथा जो आकारके साथ। न जानता जन्मकी बात।
आकार-लोपमें समस्त। न जानता नाश ॥ १८ ॥

जो है आपना ही सहजत्व। जिसको है ब्रह्मका नित्यत्व।
यही है जो सहज-नित्यत्व। कहलाता अध्यात्म ॥ १९ ॥

बिना कर्ताके अव्यक्तमें दीखनेवाली हलचल कर्म है—

जैसे गगनमें निर्मल। न जाने कैसे किसी काल।
उमड फैलते बादल। नाना रंगके ॥ २० ॥

उस विशुद्ध अमूर्तमें जैसे। महत्तत्वादि जो भूत भेदसे।
ब्रह्मांडके विभिन्न अंकुरसे। फूटने लगते ॥ २१ ॥

निर्विकल्पके उस ऊसर पर। फूटता आदि संकल्पका अंकुर।
फिर बनते जाते घने आकार। ब्रह्म-गोलके ॥ २२ ॥

देखनेसे एकेकके भीतर। भरा है बीजसे ही भरपूर।
होने-जाने वाले जीवोंकी अपार। गणना ही नहीं ॥ २३ ॥

फिर उन ब्रह्मगोलकोंके जो अंशांश। जानते आदि संकल्प असम साहस।
जिससे बढ़ती ही जाती है अनायास। सृष्टि सर्वत्र ॥ २४ ॥

पर एक ही है दूसरेके बिन। पर-ब्रह्म ही भर रहा संपूर्ण।
यहां अनेकत्वका आया महान। पूर जैसा ॥ २५ ॥

न जाने सम विषम आये कैसे। व्यर्थ ही चराचर रचते ऐसे।
औ' प्रसव योनिके अनंत जैसे। दीखते प्रकार ॥ २६ ॥

यहां है जीव-भावके कोंपल। गणनातीत दीखते सकल।
देखें तो इनके जन्मका मूल। वहां है शून्य ॥ २७ ॥

मूलमें कर्ता कोई दीखता नहीं। तथा कारण कुछ नहीं कहीं।
किंतु कार्य आप रुकता ही नहीं। बढ़ता जाता ॥ २८ ॥

ऐसे कर्ताके बिन गोचर। अव्यक्तमें जो यह आकार।
निपजता है यह व्यापार। उसका नाम कर्म ॥ २९ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

बादलके समान जो बनता और बिगडता है वह अधिभूत —

अब जो अधिभूत कहलाता। वह भी संक्षेपमें हूं कहता।
जो है बनता और बिगड़ता। बादल जैसा ॥ ३० ॥

ऐसा व्यर्थ है अस्तित्व जिसका। न होता सहज-रूप जिसका।
पांच मिल लाते रूप जिसका। धनुर्धर ॥ ३१ ॥

पंच भूतोंका आश्रय लेकर। उनके संयोगसे ले आकार।
और वियोगमें है जाता मर। नाम रूपादिक ॥ ३२ ॥

अहंकारसे अलग-सा बना आत्मा ही अधिदैव—

यह है अधिभूत कहलाता। पुरुष अधिदैव कहलाता।
जो प्रकृति उपार्जित भोगता। भोग सर्व ॥ ३३ ॥

चक्षु है जो चेतनका। अध्यक्ष है इंद्रियोंका।
वृक्ष संकल्प-पक्षिका। देहांतमें ॥ ३४ ॥

परमात्मा ही है जो किंतु भिन्न। है अहंकार निद्रामें मगन।
इसीलिये स्वप्नमें होता खिन्न। अथवा प्रसन्न भी ॥ ३५ ॥

अधि-भूत विनाशी जो जीवत्व अधि-दैवत।
अधि-यज्ञ स्वयं मैं हूं देहमें यज्ञ-पूत जो ॥ ४ ॥

कहलाता यह जीव। जैसा इसका स्वभाव।
इसे जान अधिदैव। पंचायतनका ॥ ३६ ॥

शरीर भाव रहित आत्मा अधियज्ञ

यहां शरीर-ग्राममें जान। शरीर-भाव उपशमन।
करता हूँ अधियज्ञ बन। पांडुकुमार ॥ ३७ ॥

यह सब मैं ही हूँ, अविद्याके कारण भिन्नता दीखती है—

यहां अधिदैवाधिभूत। यह सब मैं हूँ समस्त।
वंगयुत स्वर्ण जो नित। हीन होता जैसे ॥ ३८ ॥

फिर भी न मलता कांचन। नहीं होता वंगके समान।
किंतु मिल वंगसे हीन। कहलाता है ॥ ३९ ॥

वैसे अधिभूतादि सब। अविद्या सहित हो तब।
अलग मानते हैं जब। धनंजय ॥ ४० ॥

अविद्याका पटल उठता। भेद-भावका अंत है होता।
और दोनोंका एक रूप होता। तो वे दो थे क्या? ॥ ४१ ॥

सलौनी अलक लट एक। स्फटिक शिलातलमें रख।
ऊपरसे उसे जब देख। लगती टुटी हुई ॥ ४२ ॥

जैसे अलक-लट हटायी। न जाने दरक कहां गयी।
अंक देकर की क्या जुडायी। स्फटिक-शिलाकी ॥ ४३ ॥

मूलकी वह जो अखंडित थी। केश-संगसे खंडित हुई थी।
उसके हटनेसे ही आयी थी। मूल रूपमें ॥ ४४ ॥

ऐसा अहंभाव जब जाता। मूलमें रहती है एकता।
जहां हो ऐसी वास्तविकता। वह अधियज्ञ मैं ॥ ४५ ॥

किंतु हमने अब तुझ। सकल-यज्ञ हैं कर्मज।
कहा धरकर जो काज। मनमें पार्थ ॥ ४६ ॥

विश्राम जो जीव-जातिका। निधान नैष्कर्म्य-सुखका।
प्रकट रूप मैं उसका। कहता पार्थ ॥ ४७ ॥

वैराग्य और अभ्याससे अविद्या-मल दूर करो—अधियज्ञ

वैराग्य इंधनसे भरपूर। इंद्रियानल प्रज्वलित कर।
विषय-द्रव्य आहुति देकर। उसमें तब ॥ ४८ ॥

वज्रासन धरातल बनाकर। आधार-मुद्रा-वेदिका रचकर।
शरीर-मंडपका शोधन कर। अनंतर पार्थ ॥ ४९ ॥

कुंडमें संयमाग्निके। मंत्र-घोशसे युक्तिके।
देना इंद्रिय-द्रव्यके। शाकल्य नित्य ॥ ५० ॥

फिर मन-प्राण तथा संयम। है हवन संप्रदाय संभ्रम।
इससे तुष्ट करना निर्धूम। ज्ञानानल ॥ ५१ ॥

ऐसा यह सकल-साधन। ज्ञानाग्निमें करनेसे अर्पण।
ज्ञेयमें लय होकर ज्ञान। ज्ञेय ही रहता ॥ ५२ ॥

इसका नाम अधियज्ञ। ऐसा बोला है जब सर्वज्ञ।
तब पार्थने जो अति प्राज्ञ। जान लिया पूर्ण ॥ ५३ ॥

अंतकालकी स्थितिका वर्णन—

जानकर यह बोले कृष्ण। कर रहा है न तू श्रवण।
देख कृष्णका मुदित मन। खिल उठा पार्थ ॥ ५४ ॥

सन्तानकी तृप्तिसे तृप्त होना। या शिष्यकी पक्वतासे खिलना।
जानते मात्र सद्गुरु महान। या जन्मदात्री ॥ ५५ ॥

तब खिल उठे सात्विक-भाव। नारायणमें नरसे भी पूर्व।
किंतु समता-बुद्धिसे ही देव। संयत आप ॥ ५६ ॥

पक्व-फलका है परिमल। या शीतल अमृत-कल्लोल।
वैसे कोमल तथा सरल। बोले शब्द ॥ ५७ ॥

श्रोतृ-श्रेष्ठ तू अर्जुन। मेरी बात यह सुन।
जलानेवाला जो ज्ञान। जलाता मायाको ॥ ५८ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्
यः प्रयाति समद्भाव याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

प्रयाण कालमें भी जो मेरे ही ध्यानमें रत।
जाते हैं तजके देह मिलता मुझ निश्चित ॥ ५ ॥

मेरे स्मरण-पूर्वक जो शरीर छोड़ता है वह मद्रूप होता है—

अधियज्ञ कहते हैं जिसे। अभी कहा था तुझसे ऐसे।
जीवनमें जो जानते उसे। औ' मरते समय भी ॥ ५९ ॥

शरीर एक झोल मानकर। अपनेमें ही आप होकर।
मठ जैसे व्योमसे भर कर। रहता उसीमें ॥ ६० ॥

इस प्रतीतिके अंगनमें। निश्चलताके अंतःकक्षमें।
सोते हैं सो विषयोंको उनमें। नहीं प्रवेश ॥ ६१ ॥

अंतर्बाह्य ऐसा ऐक्य भरा है। जो आप मद्रूप बन गया है।
पंच-भूतोंका झोल उतरा है। अनजाने बाहर ही ॥ ६२ ॥

जीवनमें उभयत्व नहीं जिसके। मरणमें संकर कैसे जी उनके।
तभी न हिले अनुभूति उदरके। निश्चय रूप जो ॥ ६३ ॥

वह है ऐक्य रससे ढली हुई। या नित्यता हृदयमें बसी हुई।
या समरस-सिंधुसे धुली हुई। न होती जो मलिन ॥ ६४ ॥

मटका अथाह पानीमें डूब कर। जलसे भरकर अंदर बाहर।
दैव गतिसे मानो टूटा वहीं पर। तब होगा क्या रीता? ॥ ६५ ॥

या सांपने केंचुला उतारा। या किसीने कपडा उतारा।
इससे टूटा क्या अंग सारा। या अवयव ॥ ६६ ॥

वैसा है भासमान शरीराकार। गिरता तब आत्मवस्तु अंतर।
भरा है बोधसे जहां भरपूर। अपनेमें आप ॥ ६७ ॥

मुझे इस प्रकार। अंतमें जानकर।
छोडते हैं शरीर। होते हैं मद्रूप ॥ ६८ ॥

इसलिये तू मेरे स्मरण पूर्वक युद्ध-रत हो जा—

अथवा वैसे भी साधारण। जिसे स्मरता अंतःकरण।
प्राप्त करता है जो मरण। तद्रूप होता ॥ ६९ ॥

कोई एक अकुलाहटसे। भागते हुए वायु-वेगसे।
सहसा फिसलकर जैसे। गिरा कुएमें ॥ ७० ॥

गिरनेसे पहले गिरनेसे। बचानेका उपाय न होनेसे।
गिरना ही पड़ता है वैसे। किसी मनुष्यको ॥ ७१ ॥

वैसे मृत्युके अवसरपर। बढता जो जीव सम्मुख आकर।
उसमें ही चित्तका उलझकर। तद्रूप होना पड़ता ॥ ७२ ॥

जागृतिमें जिसकी लगन। करता मन उसका ध्यान।
देखता वही निद्रामें स्वप्न। पांडुकुमार ॥ ७३ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मा मेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

वैसे ही जीवनमें सतत। जीव रहता चावसे नित।
जिसमें आसक्त वही बात। आती मृत्यु समय ॥ ७४ ॥

मरणमें जिसका जो स्मरण। उसकी होती वही गति जान।
इसलिये कर सदा स्मरण। मेरा ही तू ॥ ७५ ॥

आंखोंसे जो देखना। कानोंसे जो सुनना।
मनमें जो भावना। बोलना वाणीसे ॥ ७६ ॥

संपूर्ण हो अंदर बाहर। मद्रूप ये सभी व्यवहार।
फिर सहज ही तिरंतर। मैं ही हूं ॥ ७७ ॥

अजी! हुआ इस भांति ही जब। न मरता देह गिरा थी तब।
संग्राम करने पर भी अब। भय रहा कहां ॥ ७८ ॥

मन बुद्धि तू संपूर्ण। मुझमें कर अर्पण।
मद्रूप होगा तत्क्षण। प्रण है मेरा ॥ ७९ ॥

लीन हो जिसमें जीव अंतमें देह त्यागता।
पाता है जो वही भाव जिसमें नित्य ही रत ॥ ६ ॥

तभी अखंड ही मेरा स्मरण कर जूझ तू।
मन-बुद्धि मुझे देके पायेगा मुझ निश्चित ॥ ७ ॥

इसलिये मेरे स्मरणका अभ्यास कर–

यह स्थिति होगी कैसे। यदि है संदेह वैसे।
देख साधना कर ऐसे। तब दे दोष ॥ ८० ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अजी! अभ्यास-योग बलसे। चितको जोड़ तू भलाईसे।
लूला भी है उपाय बलसे। चढ़ता पहाड़ ॥ ८१ ॥
वैसे अभ्याससे निरंतर। परम-पुरुषकी मुहर।
लगा चित पर फिर शरीर। रहे या ना रहे ॥ ८२ ॥
नाना वृत्तियोंमें जो डूबता। वह जब आत्मको वरता।
तब तन रहता या न रहता। स्मरता कौन ॥ ८३ ॥
सरिता-प्रवाहके जो साथ। सागरसे मिलता सतत।
वह जल देखता क्या बात। पीछे होता है क्या? ॥ ८४ ॥
जैसे वह समुद्र बन जाता। वैसे चितका चैतन्य हो जाता।
वहां जन्म-मरण ही मिटता। जो है घनानंद ॥ ८५ ॥

कविं पुराणमनुशासितारम्
अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

ब्रह्मका और योगका स्वरुप

अस्तित्व जिसका आकार रहित। जन्म-मृत्यु बिन रहता सतत।
वह है पूर्णत्वसे पूर्ण भरित। देखता पूर्ण ॥ ८६ ॥

जुटे अभ्यासमें चित्त न करें अन्य चिंतन।
योगी निश्चित पाता है महा-पुरुष दिव्यको ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ कर्ता कवि जो पुराण
है सूक्ष्मसे सूक्ष्म अचिंत्य रूप।
आदित्य दीप्ती तमसे परे जो
जगन्नियंता स्मरता सदा ही ॥ ९ ॥

गगनसे जो प्राचीन। परमाणुसे महीन।
जिसका है सन्निधान। चलाता विश्व ॥ ८७ ॥
प्रसवता है जो सब। जीते हैं उससे सब।
उटता तर्क भी सब। वह है अचिंत्य ॥ ८८ ॥
आगमें दीमक नहीं लगती। तेजमें जैसे रात नहीं आती।
किंतु स्थूल-दृष्टि नहीं देखती। स्वरूप-तेज ॥ ८९ ॥
जो है सूर्यकणोंका निधान। ज्ञानियोंका नित्योदय जान।
नहीं है जिसको अस्तमान। नाम-मात्र ॥ ९० ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

प्राप्त होते ही मरण-काल। स्थिर-चित्तसे है जो तात्कल।
स्मरता परब्रह्म सकल। अव्यंग जान ॥ ९१ ॥
पद्मासनमें रख शरीर। उत्तराभिमुख बैठकर।
हृदयमें सुख रखकर। सत्कर्मका ॥ ९२ ॥
अन्तः मिलनके मनो-धर्मसे। स्वरूप-प्राप्तिके अनुरागसे।
आत्म मिलनके समारोहसे। मिलनेके लिये ॥ ९३ ॥
जो आकलन योगसे। सुषुम्ना-मध्यमार्गसे।
निकले अग्नि-स्थानसे। ब्रह्मरंद्र ॥ ९४ ॥
वहां प्राण तथा चित्तका। भास होता है संबंधका।
जहां है प्राण संचारछा। मूर्ध्न्याकाश ॥ ९५ ॥
मन-स्थिरतासे धरा हुआ। भक्ति-भावनासे भरा हुआ।
योग-बलसे जो सधा हुआ। सज्ज होकर ॥ ९६ ॥

प्रयाण-काले स्थिर-चित्त होके
सद्भक्तिसे निश्चल योग-युक्त।
भ्रू-मध्यमें प्राण जो है टिकाता
वह योगि पाता सु दिव्य-धाम ॥ १० ॥

जड़ाजड़को घुलाता। भ्रूमध्यमें लय होता।
घंटानाद लय होता। घंटामें ही वैसे ॥ ९७ ॥
अथवा ज्योति घटमें ढ़की। न जाने क्या हुई है कबकी।
ऐसी मृत्यू आती है उसकी। पांडुकुमार ॥ ९८ ॥
ऐसा होता है वह पर-ब्रह्म। परम-पुरुष जिसका नाम।
ऐसा है वह मेरा निजधाम। स्वयं है वह होता ॥ ९९ ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

वेदोंको भी अगम्य ब्रह्म-पद प्राप्त करनेका साधना मार्ग—

सकल-ज्ञानका अंत है जो ज्ञान। उस ज्ञानकी एक-मात्र खान।
अक्षर कहते उसे ज्ञानी-जन। धनुर्धर ॥ १०० ॥
आंधीमें न उड़ता जान। होता जैसे स्वयं-गगन।
यदि हो वह जैसा घन। टिकता कैसे ॥ १ ॥
ज्ञानका विषय होनेसे। गुना गया जो ज्ञानसे।
वृत्ति-ज्ञान लय होनेसे। कहा अक्षर सहज ॥ २ ॥
तभी वेद-विद नर। कहते उसे अक्षर।
प्रकृतिसे जो है पर। परमात्म-रूप ॥ ३ ॥
विषयोंको विष मानकर। इंद्रिय सबको शुद्ध कर।
देह-वृक्ष सायाके अंदर। बैठे है शांत ॥ ४ ॥
इस भांतिसे जो विरक्त। देखते निरंतर पथ।
निष्कामसे हैं अभिप्रेत। सर्वदा जो ॥ ५ ॥

गाते जिसे अक्षर वेद—वेत्ता
विरक्त जाके जिसमें समाते।
जो ब्रह्मचारी पद चाहते हैं
तुझे कहूंगा वह तत्व-सार ॥ ११ ॥

उसके प्रेमसे साधक जन। साधते हैं ब्रह्मचर्य कठिन।
इंद्रियोंपर करके शासन। कठोर नित्य॥ ६॥

ऐसा जो महत्पद। दुर्लभ औ' अगाध।
तट पर ही वेद। खडे अगम्य हो॥ ७॥

ऐसा जिसका लय होता। वह स्वयं वह बनता।
कैसा यह तुझे कहता। मैं फिर एक बार॥ ८॥

अर्जुन कहता नारायण। यही पूछता था मेरा मन।
सहज कृपा की सकरुण। कहिये जी॥ ९॥

किंतु कहना अति ही सरल। बोले त्रिभुवन-दीप ये बोल।
जानते हैं तेरा मन निर्मल। कहूंगा संक्षेपमें॥ १०॥

मनकी लत होती बहिर्मुख। उसको तोड़कर स्वाभाविक।
करना है उसको अंतर्मुख। हृदय-तलमें॥ ११॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायाऽत्मनः प्राणमस्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

बहिर्मुख मनको अंतर्मुख करनेकी साधना—

किंतु तभी है यह घड़ता। जब संयमकी कड़ी लगाता।
सर्व-द्वारमें अनवरत। निग्रहसे॥ १२॥

स्वभावसे ही संयत मन। घर करता अन्तःकरण।
टूटे जिसके कर-चरण। घर न छोड़ता वैसे॥ १३॥

जब होता चित्त ऐसा स्थिर। तब कर प्राणका ओंकार।
लाओ उसको मूर्ध्नाकाशपर। सुषुम्ना मार्गसे॥ १४॥

लय होता न होता आकाशमें। ऐसा धरना है उसे धारणामें।
होता है मात्रात्रय अर्ध-बिंदुमें। तब विलीन॥ १५॥

तब तो वह समीर। गगनमें कर स्थिर।
ऐक्यमें जैसे ओंकार। लय कर बिंदुमें॥ १६॥

रोककें इंद्रिय-द्वार जकडे मन अंतर।
तालूमें रखके प्राण करते योग-धारणा॥ १२॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

तब मिटता है ओं स्मरण । लय होता गगनमें प्राण ।
प्रणव अन्तमें पूर्ण घन । रहता तब ॥ १७ ॥
तभी प्रणवैक नाम । यह एकाक्षर ब्रह्म ।
वह मद्रूप परम । जपते हुए ॥ १८ ॥
जो छोड़ देता है तन । त्रिशुद्धि मुझमें लीन ।
नहीं उसे मेरे बिन । गति अन्य ॥ १९ ॥

मृत्यु समय असहाय स्थितिमें भगवत्स्मरण होगा क्या ?—

अंतकालका स्मरण । करना सच अर्जुन ।
यह विचारता मन । कैसा होगा ॥ १२० ॥
इंद्रियां शिथिल होकर । जीवन-सुख डूब कर ।
मृत्यु-चिन्ह अंतर्बाहर । दीखने लगे ॥ २१ ॥
तब बैठ कर भला कौन । करेगा निरोध औ' धारण ।
कैसा करेगा अंतःकरण । स्मरण प्राणका ॥ २२ ॥
यदि ऐसा हो तेरा मन । संदेहात्मका तो अर्जुन ।
नित्य सेव्य मैं सेवालीन । होता हूं अंतमें ॥ २३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानःसंसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

करें उंच ब्रह्म उच्चार मनमें स्मरते मुझे ।
ऐसे जो तनको त्यागे पाता है गति उत्तम ॥ १३ ॥
अनन्य चित्त जो नित्य सदैव स्मरता मुझे ।
लीन जो मुझमें योगी पाता है सुखसे मुझे ॥ १४ ॥
मुझमें मिलके पाये महात्मा मोक्ष-सिद्धि जो ।
दुःखका घर जो जन्म न पाते हैं अशाश्वत ॥ १५ ॥

जीवन भर जो मेरी सेवा करता है अंतकालमें मैं उसकी सेवामें आता हूँ—

विषयोंको तिलांजलि देकर। प्रवृत्तिका जो निरोधकर।
हृदयमें मद्रूप निरंतर। अनुभवते हैं।। २४ ।।

उस अनुभवका जो भोग। कराता क्षुधा-तृषाका त्याग।
वहां चक्षु आदिकी मांग। रहती कहां।। २५ ।।

ऐसे एकात्म हुए निरंतर। हृदयमें मुझसे मिलकर।
समाते जो समरस हो कर। उपासनामें।। २६ ।।

होता जब उनका देहावसान। उनको करना है मेरा स्मरण।
तब होता यदि मेरा आगमन। तो भक्तिका मूल्य ही क्या?।। २७ ।।

अंतकालमें कोई दीन। पुकार करता रुदन।
तब क्या उसके कारण। दौड़ना पड़ता मुझे।। २८ ।।

भक्तोंकी भी यदि यही स्थिति। तब गावें क्यों भक्तिकी महति।
न करे संदेह-ग्रस्त मति। ऐसी तू अर्जुन।। २९ ।।

जिस समय वह स्मरता। उस समय मैं पहुंचता।
यह बोझ भी नहीं सहता। मन मेरा।। १३० ।।

मान यह अपना ऋण। भक्तोंके प्रति प्रतिक्षण।
सेवा करना है लक्षण। अंतमें मेरा।। ३१ ।।

संभवता व्याकुलताका भाव। अनुभवेगा सुकुमार देह।
मान मैं देता हूं उनको गेह। आत्म-बोधका।। ३२ ।।

फिर देता मेरे स्मरणकी। छाया घनी सुशीलताकी।
तथा-दृढ बुध्दि नित्यताकी। उसको मैं।। ३३ ।।

अंतकालमें व्याकुल। न होते भक्त सकल।
आते अति सकुशल। मम धाममें।। ३४ ।।

उतारकर देहकी केंचुली। झाडकर अहंकारकी धूली।
भिन्नकर सद्वासना मैं भली। अपनमें समरस करता।। ३५ ।।

भक्तोंको भी देह-भाव नहीं। देहमें रहते हुए कहीं।
इसलिए देह त्यागमें ही। नहीं वियोग।। ३६ ।।

तथा मेरा आना मरण कालमें । उनके लिये करना अपनेमें ।
ऐसा नहीं है वे जीवन-कालमें । हुए हैं समरस ॥ ३७ ॥

जैसे शरीरके सलीलमें । प्रतिबिंब अस्तित्व रूपमें ।
दीखती किंतु जोस्ना साथमें । होती चद्रके ॥ ३८ ॥

ऐसा होता जो नित्य-युक्त । उसको मैं सुलभ नित ।
तभी देहांतमें निश्चित । मैं होता वह ॥ ३९ ॥

फिर क्लेश-तरुका झंझाड़ । तथा तापत्रयाग्निका कुंड ।
है मृत्यु-काकको दिया पिंड । उतारा हुआ ॥ १४० ॥

दुःखको जो है प्रसवता । महाभयको जो बढाता ।
सकल दुःखका बनता । मूल-धन ॥ ४१ ॥

दुर्मतिका जो है मूल । तथा कु-कर्मका फल ।
व्यामोहका है केवल । स्वरूप ही ॥ ४२ ॥

संसारका है जो आसन । औ' विकारोंका महा-वन ।
सब व्याधियोंका है अन्न । परोसा हुआ ॥ ४३ ॥

जो है मृत्युका उच्चिष्ट । तृष्णा मानो मूर्तिमंत ।
जन्म-मरणका पथ । स्वभावसे ॥ ४४ ॥

भूलोंसे जो भरा हुआ । विकल्पका ढला हुआ ।
चौड़ है जो खुला हुआ । बिच्छुओंका ॥ ४५ ॥

जो है व्याघ्रका क्षेत्र । पण्यांगनाका मैत्र ।
विषय-विज्ञान यंत्र । सुपूजित ॥ ४६ ॥

राक्षसकी करुणा-सा । शीतल विष-घूंट-सा ।
तस्करका विश्वास-सा । वह है दिखाऊ ॥ ४७ ॥

कोढ़ीका है जो आलिंगन । काल-सर्पका मृदुपन ।
तथा बहेलियाका गान । धनंजय ॥ ४८ ॥

शत्रुका अतिथि सत्कार । मानो दुर्जनका आदर ।
अथवा जो महा-सागर । अनर्थका ॥ ४९ ॥

स्वप्नका जो है देखा स्वप्न । मृगजल सिंचित वन ।
या धूम्र-जका गगन । ढला हुआ ॥ १५० ॥

ऐसा है यह शरीर । जो मेरा रूप ले नर ।
हो गये हैं जो अपार । रूपमें मेरे ॥ ५१ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

ब्रह्म, इंद्रादि भी पुनर्जन्मसे मुक्त नहीं—

वैसे ब्रह्मपद प्राप्त कर भी । न चुकता पुनरावृत्त कभी ।
किंतु मरने पर जैसा कभी । न दुखता पेट ॥ ५२ ॥

अथवा जैसे जगनेपर । नहीं डुबाता स्वप्नका पूर ।
वैसे मुझमें मिलने पर । न होता संसार लिप्त ॥ ५३ ॥

जगदाकारका शीर्ष-स्थान । चिर-स्थायित्वका है प्रधान ।
शिखर-सम ब्रह्म-भुवन । लोकाचलका ॥ ५४ ॥

उस सत्यलोकका है एक प्रहर । अमरेंद्रकी आयु भरपूर ।
उठती है पंगत दिनमें निरंतर । चौदह इंद्रोंकी ॥ ५५ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिंयुगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

बदलती जब युग चौकडी हजार । तब होता ब्रह्मदेवका दिवस भर ।
सब उलटती ऐसी ही और हजार । तब होती है रात्र ॥ ५६ ॥

यह है वहांका दिन-रात । जो देखते हैं वे भाग्यवंत ।
देखते हैं यह वे स्वर्गस्थ । चिरंजीव ॥ ५७ ॥

सुरगणोंकी क्या बात । देख इंद्रकी ही गत ।
होते जाते दिनरात । चौदह इंद्र ॥ ५८ ॥

ब्रह्मादि लोक जो सारे भेजते फिर जन्ममें ।
पुनर्जन्म नहीं होता मुझसे मिलके फिर ॥ १६ ॥

सहस्र युगका होता ब्रह्मका दिन एक है ।
रात भी दिन जैसी ही कालोपासक मानते ॥ १७ ॥

ब्रह्मके जो आठ पहर । देखते हैं आंखभर ।
कहलाते यहां पर । अहोरात्रविद ॥ ५९ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

होता जब ब्रह्म-भुवनमें उदय । उसकी गणना होना अवश्यप्राय ।
ऐसे समय जो था अव्यक्तमें लय । होता व्यक्त विश्व ॥ १६० ॥

अंत होते ही दिनके चार प्रहर । सूखता है विश्वका आकार सागर ।
प्रातः समय होते ही वैसे ही फिर । उमड़ आता वह ॥ ६१ ॥

शरद्ऋतुके प्रवेशमें । समाते घन गगनमें ।
फिरसे आते ग्रीष्ममें । वही उमड़ ॥ ६२ ॥

वैसे उदयमें ब्रह्म-दिनके । उमड़ते ढेर भूत सृष्टिके ।
निमित्त हजार चौकडियोंके । मिटने तक ॥ ६३ ॥

जब रात्रीका समय आता । विश्व अव्यक्तमें लय होता ।
युग-सहस्रका तम जाता । होता विश्व उदय ॥ ६४ ॥

कही क्यों यह उपपत्ती । विश्व प्रलय औ' संभूती ।
ब्रह्म-भुवनमें जो होती । दिन-रातमें ॥ ६५ ॥

देख उसकी महानताका मान । है वही सृष्टि बीजका संकलन ।
पुनरावर्तनका अंतिम स्थान । दोनों ही आप ॥ ६६ ॥

त्रिभुवनमें जो धनुर्धर । उसीका है सब विस्तार ।
होता रचना चमत्कार । दिनोदयमें ॥ ६७ ॥

दिनमें व्यक्त होते हैं सभी भूत अव्यक्तसे ।
होते विलय रात्रीमें सभी अव्यक्तमें फिर ॥ १८ ॥

उठते मिटते सारे जीव संघ वही वही ।
दिनमें जन्म लेते हैं रातमें मरते वही ॥ १९ ॥

आते ही रात्रीका समय । होता है जो उसीमें लय ।
स्वभावसे ही स-समय । अपने आप ॥ ६८ ॥

वृक्ष जैसे लेते बीज रूप । मेघ लेते गगनका रूप ।
औ' अनेकत्व समाता आप । कहलाता जो साम्य ॥ ६९ ॥

परस्तस्मात्तुभावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

इन सबसे अक्षर चैतन्य भिन्न है और वह अक्षर चैतन्य
भक्तिसे प्राप्त होता है—

सम-विषम वहां न दीखता कहीं । इसीलिये भूत यह भाषा भी नहीं ।
जैसे दूध ही बन जाता है दही । नाम रूप रहित ॥ १७० ॥

आकारका होते ही अभाव । जगतका मिटता जगत्व ।
किंतु जिससे होता है तत्व । वह रहता ही है ॥ ७१ ॥

इसका नाम सहज अव्यक्त । आकारमें होता है वही व्यक्त ।
यह होता है सापेक्ष सूचित । किंतु है एक ही ॥ ७२ ॥

पिघलाया स्वर्ण होता घन । घनके होते नाना भूषण ।
तब न रहता रूप घन । जब हो अलंकार ॥ ७३ ॥

घन अथवा भूषण । उसका मूल है स्वर्ण ।
जो व्यक्ताव्यक्त कारण । स्थिर-रूपसे ॥ ७४ ॥

न वह व्यक्त या अव्यक्त । न है नित्य न नाशवंत ।
दोनों भावोंसे जो अतीत । अनादि-सिद्ध ॥ ७५ ॥

यह जो विश्व हो कर है बसता । विश्व-नाश होकर भी न नासता ।
जैसे अक्षर पोंछनेसे न मिटता । बोध वैसा ॥ ७६ ॥

जैसे तरंग उठता गिरता । किंतु उदक अखंड रहता ।
वैसे भूत मात्रमें न नाशता । वह अविनाशी तत्व ॥ ७७ ॥

अव्यक्त दूसरा तत्व उस अव्यक्तसे परे ।
नाशसे सब भूतोंके रहे शाश्वत नित्य जो ॥ २० ॥

पिघलते हैं आभूषण । न गलता उसका स्वर्ण ।
वैसे जीवाकारमें पूर्ण । मर्त्यमें जो अमर ॥ ७८ ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतीम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

उस चैतन्यकी व्यक्ताव्यक्तता —

अव्यक्त कहनेसे सकौतुक । स्तुति न होती उसकी सार्थक ।
न आता मन - बुद्धिमें सम्यक । इसी लिये ॥ ७९ ॥

आकारत्व आनेपर जिसका । निराकारत्व न जाता उसका ।
आकार लोपसे भी नित्यताका । न होता लोप ॥ १८० ॥

इसीलिये उसे कहते हैं अक्षर । जिससे बोध होता है सविस्तर ।
न दीखता विस्तार उसके पार । उसका नाम परमगति ॥८१॥

किंतु मैं देहपुरमें संपूर्ण । रहता हूं निद्रस्तके समान ।
नहीं करता चलन वलन । न करता इसीलिये ॥ ८२ ॥

वैसे शरीरके कोई व्यापार । नहीं रुकते हैं धनुर्धर ।
दस इंद्रियोंके हैं व्यवहार । चलते अव्याहत ॥ ८३ ॥

अंतःकरणके चौराहे पर । लग रहा है विषय-बाजार ।
मिले सुख-दुखका राज कर । मिलता जीवको ही ॥ ८४ ॥

जैसे राजा सुखसे जब सोता । उसका राज-काज न रुकता ।
प्रजा-जन करते सहजता । अपनी इच्छासे ॥ ८५ ॥

वैसे बुद्धिका जानना । मनका है लेना-देना ।
इंद्रियोंका भी करना । तथा स्फुरण वायुका ॥ ८६ ॥

कहा अक्षर अव्यक्त वही है गति अंतिम ।
वही मेरा परं-धाम वहांसे लौटता नहीं ॥ २१ ॥
मिले अनन्य भक्तीसे पार्थ परं-पुरुष जो ।
जिसमें रहते जीव जिससे व्याप्त है जग ॥ २२ ॥

वैसे ही सब शरीराचार । न चलाते चलत सुदर ।
जैसे रविके न चलाकर । चलता त्रिलोक ॥ ८७ ॥

अर्जुन ! यह है ऐसा । शरीरमें निद्रित-सा ।
इसीलिये हैं पुरुष । कहते इसको ॥ ८८ ॥

तथा प्रकृति जो पतिव्रता । उसका है यह पत्नीव्रत ।
इसीलिये यह कहलाता । पुरुष है ॥ ८९ ॥

किंतु वेदोंका भी बहुश्रुतपन । देख न सकता इसका अंगन ।
होता यह गगनका आच्छादन । धनुर्धर ॥ १९० ॥

यह जानकर योगीश्वर । उसको कहते परम पर ।
जो है अनन्यगतिका घर । ढूंडकर आते हैं ॥ ९१ ॥

ऐसा यह अक्षर चैतन्य भक्तिसे प्रकट होता है—

जिनका तन मन वचन । नहीं सुनता अन्य कथन ।
पकता एक निष्ठका धान । इस खेतमें ॥ ९२ ॥

यह त्रैलोक्य ही पुरुषोत्तम । ऐसा सच्चा जिनका मनोधर्म ।
वह सदा आस्तिकोंका आश्रम । है धनंजय ॥ ९३ ॥

जो निगर्वियोंका मान । गुणातीतका है ज्ञान ।
सुखका है उपवन । निरिच्छोंका ॥ ९४ ॥

संतोषका परोसा जो पक्वान्न । अचिंत अनाथोंका मातृ-स्थान ।
भक्ति-नगरका पथ महान । सरल सुलभ ॥ ९५ ॥

यह एकेक कह कर । खोयें क्यों काल धनुर्धर ।
वहां जानेसे वह ठौर । होता है स्वयं ॥ ९६ ॥

जैसे हिम-शीतकी लहर । शीतल करता तप्त नीर ।
या सूर्य सम्मुख आ अंधार । होता प्रकाश ॥ ९७ ॥

वैसे संसार भी अर्जुन । पहुंचकर संपूर्ण ।
बनता है मोक्ष स्थान । अनायास ॥ ९८ ॥

अग्नि-कुंडमें जैसे जो आया । वह ईंधन ही अग्नि भया ।
चुनकर भी हाथ न आया । काष्ठपन फिर ॥ ९९ ॥

जैसे डली जो गूडकी । रूप न लेती ईखकी ।
बुध्दिमंत ले बुध्दिकी । कितनी थाह ॥ २०० ॥

अथवा लोहका कनक भया । यह पारसने सहज किया ।
फिर उसका लोहपन आया । यह असंभव ॥ १ ॥

घृत बनकर एक बार । असंभव फिर होना क्षीर ।
वैसे ही वह धाम पाकर । नहीं पुनरावर्तन ॥ २ ॥

ऐसा वह मेरा परम । निजधाम सर्वोत्तम ।
अंतःकरणका मर्म । कहता तुझसे ॥ ३ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

मृत्यु समयकी दो स्थितियां—

इसको जाननेका प्रकार । अति सुलभ है इक और ।
देह त्यागके स-अवसर । पाते योगीजन ॥ ४ ॥

अकस्मात ऐसा भी घड़ता । अनवसर तन गिरता ।
तब है पुनः आना पड़ता । देहमें उन्हें ॥ ५ ॥

देह छोड़कर सकाल । ब्रह्म होते हैं वे तत्काल ।
देह छोड़कर अकाल । आते संसारमें ॥ ६ ॥

सायुज्य तथा पुनरावर्तन । वह है सब अवसराधीन ।
वह अवसर कहूं महान । तुझसे अब ॥ ७ ॥

अब तू सुन अर्जुन । मृत्यूके नशामें जान ।
पांचों करते प्रयाण । अपनी राहसे ॥ ८ ॥

होता है प्रयाणकाल प्राप्त । न होती है बुद्धि भ्रम-ग्रस्त ।
तथा न होता सब विस्मृत । न बरता मन ॥ ९ ॥

किस काल गया कैसे तजके देह साधक ।
आता है या न आता है कहता मैं सुनो अब ॥ २३ ॥

यह चेतन-वर्ग संपूर्ण । मरण कालमें भी नवीन ।
आकलनसे होता प्रसन्न । ब्रह्म बोधके ॥ २१० ॥

चैतन्य-वर्गका सचेतन । कालमें होता मरणासन्न ।
अग्नि-सहायतासे जान । संभव होता ॥ ११ ॥

हवा या पानीसे जब । बुझती है ज्योति तब ।
देखती क्यों दृष्टि कब । अपनी ही ॥ १२ ॥

वैसे देहावसानकी विषमतासे । देह भरता है अंतरबाह्य श्लेष्मसे ।
तेज बुझता तब अग्निका उससे । सहज धनुर्धर ॥ १३ ॥

न रहता जब प्राणका प्राण । न होता है चतन्य अग्नि बिन ।
तब रहकर सतेज ज्ञान । क्या होगा शरीरमें ॥ १४ ॥

जब है शरीरका अग्नि जाता । केवल वह कीचड रहता ।
तनमें तब खोजता रहता । मृत्यु घटिका ॥ १५ ॥

पूर्व स्मरण जहां संपूर्ण । थाम लेता कालमें प्रयाण ।
शरीर त्यज ब्रह्म-निर्वाण । पाना स्वरूपमें ॥ १६ ॥

किंतु कीचमें देह श्लेष्मकी । फंसी तब शक्ति चेतनाकी ।
कैसी बात भूत-भविष्यकी । रहेगी स्मरण ॥ १७ ॥

अजी ! जीवन भरका अभ्यास । भूल गया अंतकालमें खास ।
जैसे थाथी देखते ही प्रकाश । बुझा हाथका ॥ १८ ॥

रहने दो यह सकल । ज्ञानको अग्नि ही है मूल ।
अग्निका ही है पूर्ण बल । प्रयाण कालमें ॥ १९ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अंदर अग्नि-ज्योतिका प्रकाश । बाहर शुक्ल पक्ष औ' दिवस ।
तथा षण्मासोंमें कोई भी भास । उत्तरायणका ॥ २२० ॥

अग्निसे दिन शुक्लार्ध जोडके उत्तरायण ।
जाता जो जुडता ब्रह्म अंतमें ब्रह्म जानके ॥ २४ ॥

मृत्युसमयकी पहली स्थिति-चैतन्यप्रधान, प्रकाश प्रधान—

ऐसे समय-योगमें नियत । होता है जिसका देहपात ।
जो ब्रह्म-विद करता प्राप्त । परमपद ॥ २१ ॥

सुन तू अब धनुर्धर । सामर्थ्य जो सु-अवसर ।
सरल मार्ग है स्वपुर । पहुंचनेका ॥ २२ ॥

अग्नि प्रथम पावरी । ज्योतिर्मयता दूसरी ।
तथा दिवस तीसरी । शुक्लपक्ष ॥ २३ ॥

तथा षण्मास उत्तरायण । वह है ऊपरका सोपान ।
पाते हैं सायुज्य-सिद्धिदिन । इससे योगी ॥ २४ ॥

उत्तम काल है बहुत । कहलाता अर्चिरा पथ ।
कहता हूं अकाल पार्थ । सुन तू अब ॥ २५ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

तम प्रधान मृत्यु समय—

समयमें जब प्रयाणके । उभार आवे वात-श्लेष्मके ।
आवरण हो अंधःकारके । अंतःकरणपे ॥ २६ ॥

इंद्रियां होती जैसे काष्ठ । स्मृति होती भ्रममें नष्ट ।
मन होता है पथ भ्रष्ट । तथा घुटता प्राण ॥ २७ ॥

मिटता अग्निका अग्निपन । रहता है धूम्र ही संपूर्ण ।
जिसमें चेतनाकी घुटन । होती शरीरमें ॥ २८ ॥

जैसे चंद्रपर बादल । आता है घना औ' सजल ।
तब ना घना या उज्वल । रहता प्रकाश ॥ २९ ॥

न मरता वह न सावध । जीवितसह पडता स्तब्ध ।
ऐसी आयु-कालकी मर्याद- । प्रतीक्षामें रहता ॥ २३० ॥

धूमसे रात कृष्णार्ध जोड़के दक्षिणायन ।
जाता जो लौटता पीछे पहुंचे चंद्र-लोकको ॥ २५ ॥

जहां मन-बुध्दि-करण । डूबा धूम कुलावरण ।
वहां अनुभवका ज्ञान । डूबा जीवनका ॥ ३१ ॥

जहां हाथका भी जाता । वहां लाभकी क्या कथा ।
प्रयाणकाल अवस्था । होती ऐसे ॥ ३२ ॥

यहां देहमें ऐसी स्थिति । वहां कृष्ण पक्ष औ' राति ।
षण्मासमें घटिका आती । दक्षिणायनकी ॥ ३३ ॥

जब पुनरावर्तनका घर । प्रयाण समयमें जाता भर ।
तब स्वरूप-सिध्दि समाचार । सुने कौन ॥ ३४ ॥

ऐसा जिस योगीका शरीर पडता । योगी होनेसे चंद्रलोक ही मिलता ।
वहांसे फिर पुनरावर्तन होता । संसारमें ॥ ३५ ॥

कहा मैंने अकाल अर्जुन । वह यही है इसको जान ।
धूर्ममार्ग पुनरावर्तन । यही है जो ॥ ३६ ॥

यहां वह अचिरामार्ग । चलता हुआ औ' सलग ।
सहज सुलभ सुभग । मोक्ष-दायक ॥ ३७ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

किंतु जो मद्रूप है वह किसी मार्गसे आय तो भी ब्रह्मपद पाता है—

ये दो ऐसे अनादि पथ । सरल तथा टेडा पार्थ ।
तभी बताये मैंने सार्थ । तुझको अब ॥ ३८ ॥

क्यों कि मार्ग अमार्ग देखना । सच्चा झूठा यह जान लेना ।
हित अहित समझलेना । अपने हितार्थ ॥ ३९ ॥

कोई भली नांव छोडकर । कूदेगा क्या नदीके भीतर ।
तथा सीधी राह जानकर । चलेगा क्या कुपथ ॥ २४० ॥

जानता जो विष औ' अमृत । छोडता है क्या वह अमृत ।
वैसा कोई छोड सीधा पथ । चलें क्यों टेडा ॥ ४१ ॥

प्रकाश और अंधार दोनों मार्ग अनादि हैं ।
निस्तार करता एक घेरेमें एक डालता ॥ २६ ॥

इसीलिये अर्जुन प्रथम । जानना उत्तम अधम ।
जाननेसे समयमें काम । होगा सब व्यर्थ ॥ ४२ ॥

वैसे देहांतमें बडा विषम । इन मार्गोका है बडा संभ्रम ।
जीवन भर अभ्यासका काम । होगा सब व्यर्थ ॥ ४३ ॥

अर्चरा मार्ग भूलकर । पडे तो धूम्र पथपर ।
पडेंगे संसार-सागर । भंवर-चक्रमें ॥ ४४ ॥

देख कर ये बडे सायास । किस भांति मिटेंगे त्रास ।
सोचकर यह पथ खास । कहा जायेगा ॥ ४५ ॥

ऐसे ब्रह्मपद महान । दूसरेसे पुनरावर्तन ।
वैसे अंतकालका क्षण । जैसा हो वैसा मिलेगा ॥ ४६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

तब कहे देव यह नहीं ऐसा । कब क्या मिलेगा जाने कोन कैसा ।
देह-पातसे ब्रह्म बनता जैसा । रहा मार्गसे ही ॥ ४७ ॥

तब रहे या जाये यह तन । हम वह ब्रह्म है यह जान ।
डोरीपे सर्पत्वका आरोपण । मिथ्या है इसलिये ॥ ४८ ॥

मुझे तरलपन है या नहीं । भासता क्या यह पानीको कहीं ।
पानी जो है पानी ही कभी कहीं । वैसे ही पार्थ ॥ ४९ ॥

तरंगाकारसे न जन्मता । तरंग लोपसे न मरता ।
देहमें रहते ब्रह्म होता । देहसे जो ॥ २५० ॥

शरीरत्व नहीं रहा खास । अब उन तत्वज्ञोंके पास ।
भला होगा क्या किसका नाश । इसमें क्या रहा ॥ ५१ ॥

देशकालादि यदि संपूर्ण । भये आपही जब तत्क्षण ।
फिर पथका अनुसंधान । रहा किसके लिये ॥ ५२ ॥

ऐसे जो जानके मार्ग योगी होता न मोहित ।
तभी तू सर्वदा पार्थ योगसे युक्त हो रह ॥ २७ ॥

अजी ! जब यह घट फूटता । घटाकाश है राहमें लगता ।
वह महदाकाशमें मिलता । या रहता वहीं ॥ ५३ ॥

यहां है ऐसा प्रकार । मिटता मात्र आकार ।
गगन है एकाकार । सदा सर्वत्र ॥ ५४ ॥

होता है जब यह बोध । न रहता मार्गका द्वैध ।
बनने पर सोऽहं सिद्ध । योगियोंको ॥ ५५ ॥

इसका कारण पांडुसुत । तुम्हे बनना योग-युक्त ।
जिससे सर्वदा समता । रहगी अपनेमें ॥ ५६ ॥

तबहो कुछ भी कभी । देह बंध हो न हो तभी ।
अखंड ब्रह्म बोध कभी । न बिगडेगा ॥ ५७ ॥

सभी प्रकारके मोहसे मुक्त मनुष्य—

वह कल्पारंभमें न जनमता । कल्पांतमें भी वह नहीं मरता ।
स्वर्ग संसारादिमें नहीं फंसता । सृष्टि-कालमें ॥ ५८ ॥

जिस बोधसे वह योगी बनता । उसकी सरलता अनुभवता ।
अन्य भोगोंको तौलकर तजता । स्वरूपावस्थामें ॥ ५९ ॥

अर्जुन इंद्रादि देव । मानते अपना सर्वस्व ।
वह राज्य-भोग वैभव । मानता तुच्छ ॥ २६० ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

जो वेदका यज्ञ तथा तपोंका
दानादिका पुण्य कहा गया है ।
जो लांघता सर्व हि जानके तो
योगी चढे आद्य महान धाम ॥ २८ ॥

यदि पुण्य वेदाध्ययनका । तथा बहार यज्ञ-फलका ।
प्राप्त सर्वस्व तप दानका । धनंजय ॥ ६१ ॥

मिलकर सब पुण्यका खेत । बहर पकने पर भी पार्थ ।
ब्रह्मानंदकी तुलनामें व्यर्थ । जो नित्य निर्मल ॥ ६२ ॥

तुलनामें जो नित्यानंदके । तुलामें डाले तो उपमाके ।
छोड़ा नहीं है उस सुखके । साधन यज्ञादि हैं ॥ ६३ ॥

न नासता जो न खूटता । भोगीको सदा तृप्ति देता ।
भावी महा-सुखका होता । बंधुही वह ॥ ६४ ॥

ऐसे जिस दृश्य सुखका । अधिष्ठान हैं संसारका ।
प्राप्तव्य है शत-मखका । न मिलता कभी ॥ ६५ ॥

उस अलौकिकको योगीश्वर । तोलता है हथेली पर ।
स-कौतुक अनुमान कर । कहता हलका ॥ ६६ ॥

फिर जिस सुखका अर्जुन । रचकर भलासा सोपान ।
प्राप्त करता है सिंहासन । ब्रह्म-सुखका ॥ ६७ ॥

ज्ञानेश्वरका उपसंहार—

ऐसा जो चराचरैक्य भाग्य । ब्रह्मेशके आराधना योग्य ।
योगी जनके महायोग्य । योग धन जो ॥ ६८ ॥

वह सकल कलाकी कला । परमानंदका है पुतला ।
जीवोंका परम जिव्हाला । विश्वके जो ॥ ६९ ॥

सर्वज्ञताका है जो जीवन । यादव कुलदीप पावन ।
बोला धनंजयसे श्रीकृष्ण । इस भांति ॥ २७० ॥

कुरु क्षेत्रकी ऐसी कथा । संजय राजासे कहता ।
उसीको है आगे सुनाता । ज्ञानदेव निवृत्तिदास ॥ २७१ ॥

गीता श्लोक २८

ज्ञानेश्वरी ओवी २७१.

ॐ

राज-विद्या = समर्पणयोग

१

पित्र-रूपमें गुरु-वंदन—

अजी ! ध्यानसे चित दीजिये । सब सुखका पात्र बनिये ।
प्रतिज्ञोत्तर यह सुनिये । प्रकट बात ॥ १ ॥

प्रौढ़तासे यह नहीं बोलता । आप सर्वज्ञोंसे स-ममता ।
ध्यान दें यह विनय करता । सर्वज्ञ-समाजसे ॥ २ ॥

लाड़लेके सब लाड़ पूर्ण होते । सब ही मनोरथ संपन्न होते ।
मातापिता जब हैं श्रीमंत होते । आपके समान ॥ ३ ॥

आपकी कृपा-दृष्टिके रससे । प्रसन्नताका बाग खिलनेसे ।
उसकी छायामें सोता सुखसे । श्रांत जो मैं ॥ ४ ॥

प्रभु आप हैं सुखामृतके सागर । हम पाते शीतलता इच्छानुसार ।
यहां पर भी स्नेहार्थ सकुचाकर । कहां पायें शांति ॥ ५ ॥

यों तो बालक तुतलाता । टेड़ा मेड़ा पग रखता ।
उससे स-कौतुक माता । रीझती सदा ॥ ६ ॥

वैसा आप सन्तोंका प्रेम । चाहते जिसे सदा हम ।
इसीलिये करते प्रेम । श्री चरणोंमें ॥ ७ ॥

बोलनेमें क्या है मेरी योग्यता । जहां सर्वज्ञ भावा-दृश श्रोता ।
सरस्वती सुत है क्या सीखता । देकर पाठ ॥ ८ ॥

कितना ही बड़ा क्यों न हो ज्योतिरिंगण । नहीं प्रकाशता भानुबिंबके समान ।
नहीं मिलता अमृत थाल सम पकवान्न । उसका उपाय क्या ? ॥ ९ ॥

हिमकरको पंखा झलना। नाद-ब्रह्मको गाना सुनाना।
अथवा भूषणको सजाना। होता क्या ऐसा ?॥ १०॥

कहिए सुगंधको क्या सूंघना। सागरको कहां स्नान करना।
आकाशको जिसमें समाना। क्या लावें ऐसा॥ ११॥

आप सब जिससे तृप्त होंगे। जिसको सु-प्रवचन कहेंगे।
सुनके मनमें प्रसन्न होंगे। ऐसा वक्तृत्व कहां ?॥ १२॥

किंतु प्रकट होते ही गभस्ति। न उतारते क्या हाथ आरती।
न देते क्या अर्घ्यांजलि स-भक्ति। महा-सागरको॥ १३॥

आप हैं स्वामी महेशकी मूर्ति। दुबला मैं पूजता हूँ स-भक्ति।
तभी बिल्व छोड़ दूं गंगावती। स्वीकार करेंगे॥ १४॥

पिताकी थालमें हाथ डाल कर। खिलाता शिशु जब पिताको कौर।
प्रेम-भरसे तब पिता सत्वर। झुकके खोलता मुख॥ १५॥

वैसा मैं करता हूँ आपसे। तुतलाता हूँ बाल-मतिसे।
तथा सुनते आप मोदसे। यह है प्रेम-भाव॥ १६॥

ऐसी आत्मीयतासे मोहित। सन्त-समूह है अति-ग्रस्त।
नहीं होगा स्नेहका किंचित। भार आपको॥ १७॥

आघात करता जब शिशुका मुख। प्रेमार्द्र-माता स्तन्य देती अधिक।
रोषसे बढ़ता सदा प्रेम अधिक। प्रिय-वस्तुके॥ १८॥

मुझ बालकका यह वचन। आपका निद्रस्त कृपालुपन।
जागृत करेगा यह मैं जान। बोला हूँ आपसे॥ १९॥

कार्यकी और गुरु-कृपाकी महता—

पकाते क्या कभी पालमें चांदनीको। पंखेसे गति देते हैं क्या पवनको।
खोल चढ़ाते कैसे कहो गगनको। मुझसे आप॥ २०॥

तरल नहीं करना पड़ता पानी। नवनीतमें नहीं पैठती मथनी।
लज्जित हो अभिव्यक्त न होती वाणी। आपके सम्मुख॥ २१॥

शब्द-ब्रह्म जिस खटौले पर। सोता है शब्द कुंठित हो कर।
देश-भाषामें यह गीता-सार। कहनेकी योग्यता क्या ?॥ २२॥